

○.....
 ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीक के इस आधुनिक दौर में मानव रहित होती प्रक्रियाओं में शिक्षा के संदर्भ में भी 'इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों' से बच्चों को सिखाने की पैरवी की जा रही है। यह अनुपयोगी है हम नहीं कहना चाहते लेकिन एक बात यह जरूर कहना चाहते हैं कि सीखने में मानवीय अंतःक्रिया का विकल्प नहीं खड़ा किया जा सकता। शिक्षक अपने व्यवहार-आत्मीयता, संवेदनशीलता एवं प्रेम से - वह सब सिखाने में सक्षम है जो अन्यथा संभव नहीं है। अच्छे शिक्षक अजस्र स्रोत की तरह सतत प्रेरणा देते रहते हैं।

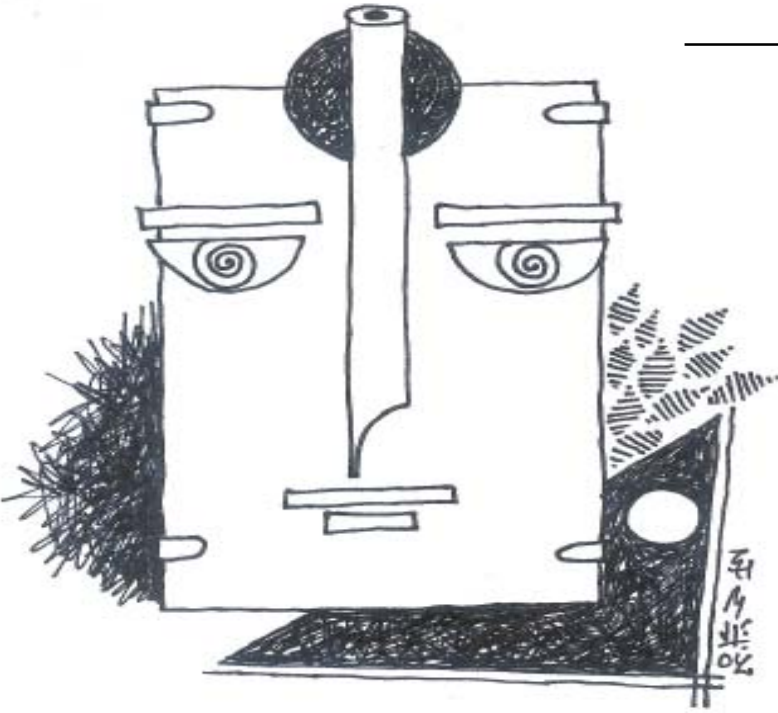
शिक्षा विमर्श में प्रयोग बतौर हम कोशिश कर रहे हैं 'यादों से रची' सीखने की प्रक्रिया और उसके द्वन्द्वों को समझने की, कि क्या है जो हमारे व्यक्तित्व को रूपाकार देता है ?

स्वयं प्रकाश जी हिन्दी के सुप्रसिद्ध एवं वरिष्ठ कथाकार हैं। हमारे आग्रह पर उन्होंने यह संस्मरण लिखा है। आभार के साथ ही हम कहना चाहते हैं कि स्वयं प्रकाश जी ने लिखने में कंजूसी जरूर की है।

.....○

गुरु बरमा गुरु शरमा

□ स्वयंप्रकाश



मैदान में झाड़ू लगाते तक देखा गया। कोई अपना काम ठीक से नहीं करता या नहीं ही करता तो उससे कुछ कहने की बजाय खुद वह काम कर देते और बहुत अच्छी तरह। आज यह तरकीब कारगर होगी की नहीं, कहा नहीं जा सकता, लेकिन उस समय उनका इतना नैतिक दबदबा था कि लापरवाही या कामचोरी करने वाला बुरी तरह शर्मिन्दा हो जाता और दूसरे ही दिन ये चीजें ठीक हो जातीं।

बाबूलाल वर्मा सर एक बात अक्सर कहते थे। 'जो भी काम करो, चाहे जूते पर पॉलिश ही क्यों न करो, इतना अच्छा करो कि देखने वाला फौरन कहे, जरूर यह बाबूलाल वर्मा के

विद्यार्थी ने किया होगा।

बाबूलाल वर्मा हमें चौथी कक्षा में पढ़ाते थे। वह एक दुबले-पतले और बेहद फुर्तीले व्यक्ति थे। घर का धुला खादी का कुरता-पाजामा और गांधी टोपी पहनते थे। कभी उन्हें किसी आयोजन की तैयारी में भागदौड़ करते देखा जाता, कभी पौधे लगाते, कभी स्कूल के गमलों की मिट्टी खोदते तो कभी सभी कक्षाओं के ब्लैकबोर्ड पीले पोंछे से साफ करते। एक बार तो उन्हें स्कूल के

पच्चीस-तीस साल की नौकरी में सैकड़ों बच्चों से हजारों बार बाबूलाल वर्मा ने यह बात कही होगी। अनुमान लगाना मुश्किल है कि कितनों के जीवन पर इसने असर डाला होगा। लेकिन मेरे लिए तो यह जीवन का मूलमंत्र बन गया।

एक गिरिजाशंकर दीक्षित सर थे जो हिन्दी पढ़ाते थे और सुलेख पर बहुत जोर देते थे। रचनात्मकता को प्रोत्साहित करते थे। सही से सही जवाब कोई होमवर्क या परीक्षा में लिख आये, उसे बेहद कम अंकों के साथ यह टिप्पणी भी मिलती थी कि उत्तर अमुक पुस्तक से लिया हुआ है। जबकि मन से लिखने वाले को अशुद्धियों के बावजूद वे अच्छे अंक देते थे। हां, लेख सुन्दर होना जरूरी था।

मुझे बचपन में बरू से लिखवाया गया था। मेरी लिखाई सुन्दर मानी जाती थी। फिर भी तब इस पर इतना जोर दिये जाने का औचित्य मेरी समझ में नहीं आता था। अब समझ पाता हूँ कि मेरी अभिव्यक्ति और सौन्दर्यबोध को विकसित करने में इस दकियानूसी से लगते बलाघात और अभ्यास में कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी।

एक दिन घूमता-घामता 'कला कक्ष' में पहुंच गया। कला अध्यापक त्र्यंबक सर थे। और वह तत्कालीन सामान्य अनुशासन की पूरी तरह धजियां उड़ाते हुए मेज पर बैठे थे, कुर्सी पर पैर रखे... और सिगरेट भी पी रहे थे। कक्षा के विद्यार्थी तितर-बितर बैठे-खड़े चित्र बना रहे थे।

त्र्यंबक सर के क्या कहने! परंपरागत अध्यापकों से बिल्कुल अलग, वह एकदम फिल्मी हीरो जैसे थे। तंग पतलून और नयी से नयी डिजाइन की मनीला शर्ट। घुंघराले बाल और आकर्षक नाक-नक्शा। एक दिन मैंने उन्हें किसी की मोटर में भी जाते देखा था।

कला कक्ष में सिर्फ पांचवीं के बच्चे जाते थे। मैं दरवाजे पर ठिठका खड़ा रहा। त्र्यंबक सर ने मुझे भीतर बुलाया। पूछा- ड्राइंग बनाओगे ? मैंने हां में मुंडकी हिलायी। उन्होंने कुर्सी खाली कर दी। एक छोटे से ड्राइंगबोर्ड पर ड्राइंगपिन से लगा ड्राइंग शीट का टुकड़ा और एक पेंसिल मुझे ला दी और बोले बनाओ ! मैंने पूछा-क्या बनाऊं ? तो बोले - जो चाहो !

ड्राइंग बनाना मुझे अच्छा लगता था। लेकिन ड्राइंग बोर्ड और ड्राइंग पिन और ड्राइंग शीट ! यह तो सपने जैसा था। कुछ देर सोच में पड़ा रहा कि क्या बनाऊं। फिर दो रोज पहले देखे कला महाविद्यालय के अहाते में एक तिरपाल के नीचे झांसी की रानी की मूर्ति बनाते जोशी सर की याद आयी। (उन्नीस सौ सत्तावन की बात है। इन्दौर में कांग्रेस का राष्ट्रीय अधिवेशन होने वाला था। इसके लिए इन्दौर से कुछ दूर 'लक्ष्मी बाई नगर' बसाया गया था। इन्दौर कला महाविद्यालय के आचार्य और प्रख्यात चित्रकार बी. जी. जोशी उसी के लिए मूर्ति बना रहे थे।) तो मैंने अपनी याददाश्त से

झांसी की रानी बना दी। एक बार त्र्यंबक सर देख गये। दोबारा आये तो टूटे हुए पेस्टल कलर्स का एक डिब्बा रख गये।

मैं रंग भरने लगा।

तभी चपरासी नमकीन मिक्सचर ले आया। कागज के टुकड़ों में सबके सामने रख गया। मेरे सामने भी।

चित्र पूरा हो गया। घोड़े की अगली टांगें हवा में उठी हुई थीं। फिर भी वह उछलता हुआ नहीं लग रहा था, टंगा हुआ लग रहा था। त्र्यंबक सर आये। देखा, नीले रंग से दो-चार रेखाएं ऐसी बनार्यी कि घोड़ा उछलने लगा। ऐसी जोर से कि सामने से हट जाने का मन हो।

त्र्यंबक सर अपनी और मेरी कारीगरी को पांच मिनट देखते रहे फिर बोले - इसे यहीं रख जाओ। यहां लगायेंगे दीवार पर। जब मन करे आ जाया करो। अब नमकीन खाओ और फूटो! मेरा बनाया चित्र स्कूल की दीवार पर लगेगा ? अकल्पनीय जैसी बात ! लगा नहीं हालांकि कभी, पर मैं जिन्दगी भर के लिए कला का दीवाना बन गया।

लेकिन मेरे असली अध्यापक थे कलार्थी पेण्टर जो साइनबोर्ड और सिनेमा के पोस्टर बनाते थे, चन्द्रभाई मूनलाइट लॉण्डी वाले जो पतलून पर ऐसी प्रेस करते थे कि वह सनमाइका की शीट लगती थी, मांगीलाल जी नाई जो हम लोगों की कटिंग बनाते थे और शफीक चाचा जो एक सादे बेजान बेनूर कपड़े से जीता-जागता सूट बनाने का कमाल जानते थे। मैं घण्टों इन लोगों की दुकान के आगे खड़ा-खड़ा इन्हें काम करते देखता रहता और मेरे मन में वाह ! वाह !! के फव्वारे छूटते रहते। इस फेहरिस्त में रामू मोची का नाम भी जोड़ना चाहिए जो जूते पर ऐसी पॉलिश करता था कि उसमें न सिर्फ आसमान बल्कि आसमान में उड़ी पतंग तक दिखाई देने लगती थी। लेकिन एक दिन चोरी के शक में पुलिस उसे पीटती हुई ले गयी और बाद में वह कभी दिखाई नहीं दिया।

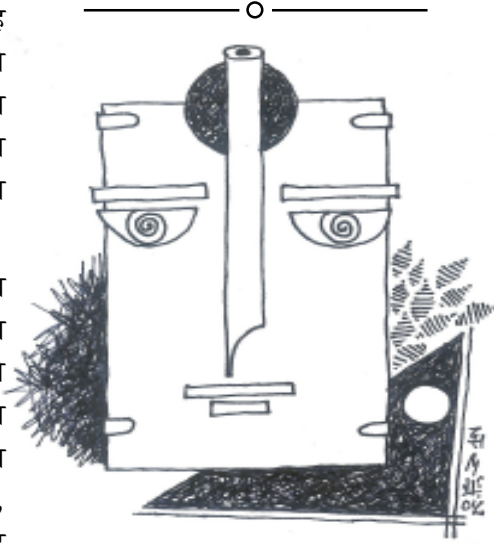
मेरे पिताजी अजमेर में रहते थे। मैं जब दूसरी कक्षा में था, मुझे अपने नानाजी के पास इन्दौर भेज दिया गया था। मेरे लिए इतने लोगों से और इतनी तरह से सीखना इसलिए संभव हो पाया क्योंकि नानाजी के घर में हम सब बच्चों के लिए एक डेमोक्रेटिक स्पेस था, जो कि पिताजी के घर बिल्कुल नहीं था। बाद में कुछ कहानियों में मैंने बड़ी तकलीफ के साथ इसका जिक्र किया। अफसोस कि आज भी कई घरों में ऐसा ही माहौल है कि सारा घर गृहपति की निजी पसन्द-नापसन्द और सनक के हिसाब से चलने पर मजबूर होता है और जिसे यह पसन्द न हो, वह घर छोड़कर चला

जाए ! नानाजी के यहां ऐसा हर्गिज नहीं था। वहां मामाओं- मौसियों के बीच राजनीति पर बहसें होती थीं। गरमागरम। असहमत होने की पूरी छूट होती थी और इससे किसी का मुंह नहीं सूजता था। बच्चों पर पहरे नहीं होते थे। बच्चियों पर परदे नहीं। यह सामंती भारत की नीली शिराओं में लोकतंत्र का ऊष्ण और लाल रक्त का पहला-पहला प्रवेश था।

इन्दौर की तासीर का भी असर रहा होगा। तीन लाख के उस शहर में बाईस हाईस्कूल और तीन कॉलेज थे। कुछ तो महाराजाओं द्वारा स्वयं स्थापित। महाराजा शिवाजीराव विद्यालय, संयोगितागंज विद्यालय, मल्हार आश्रम, अहिल्या आश्रम, होलकर कॉलेज। और होलकरों की क्रिकेट टीम थी। और अस्पताल वगैरह भी। खुद मेरा जन्म तुकोजीराव हॉस्पिटल में हुआ था। गांधीजी इन्दौर में हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन का उद्घाटन करने आये थे। नेहरू-लोहिया-डांगे आते ही रहते थे। एक साधारण ट्रेड यूनियन नेता होमी दाजी ने वहां कांग्रेस के नेता और भूतपूर्व मंत्री गंगाराम तिवारी को विधानसभा चुनाव में और रामसिंह भाई को लोकसभा चुनाव में हरा दिया था। यह एक दिलचस्प अध्ययन का विषय हो सकता है कि जितनी हमारी लर्निंग सीट्स-हमारे शिक्षापीठ रहे हैं - कलकत्ता-बनारस-इलाहाबाद-अलीगढ़-पूना-इन्दौर-मैसूर उनका रेडिकल राजनीति से कितना नजदीकी और गहरा संबंध रहा है ! औपचारिक शिक्षण संस्थाओं की हम चाहे जितनी छीछालेदर करें, उनके होने मात्र का जनजीवन पर कैसा और कितना प्रभाव पड़ता है, इसका अंदाज लगाना मुश्किल है।

अब तो इन्दौर व्यापारियों का शहर हो गया है। वह अपने महान अध्यापकों को भी याद नहीं करता। कुमार गंधर्व, राहुल बारपूते, मेजर जगदाले, सी.के. नायडू, मुश्ताक अली, बेन्द्रे जोशी, विष्णु चिंचालकर, बाबा डिके, चन्द्रिभा भादुड़ी, शिवमंगल सिंह 'सुमन', ओम प्रकाश रावल.... किसे-किसकी याद है ?

मैं उन कुंठित, परेशान, परपीड़क या कम समझ अध्यापकों के नाम और चेहरे भूल गया जो मेरी दो अंगुलियों के बीच पेन्सिल



लेकिन बच्चा तिलमिलाता है अन्याय से। आप उसकी बात ही नहीं सुनते, किसी और का गुस्सा उस पर उतारते हैं या किसी और की गलती के लिए उसे सजा देते हैं। इससे बच्चा या तो रो पड़ता है या विद्रोही हो जाता है।

रखकर दबाते थे या हथेली पर बेंत मारते थे या बेंच पर खड़ा करते थे या मुर्गा बनाते थे या थप्पड़ मारते थे या किसी और तरह जलील करते थे। उनका उद्देश्य मुझे शारीरिक तौर पर प्रताड़ित करना नहीं, मेरे आत्मसम्मान और आत्म-विश्वास और व्यक्तित्व की अद्वितीयता को किसी भी तरह कुचलना होता था। अब न शरीर पर चोट के निशान बचे हैं न मन पर अपमान-उपेक्षा-तिरस्कार की खलिश। शायद ही कोई बच्चा ऐसी चीजों को बहुत महत्त्व देता हो। लेकिन बच्चा तिलमिलाता है अन्याय से। आप उसकी बात ही नहीं सुनते, किसी और का गुस्सा उस पर उतारते हैं या किसी और की गलती के लिए उसे सजा देते हैं। इससे बच्चा या तो रो पड़ता है या विद्रोही हो जाता है।

एक पता नहीं कौन से सर थे। दो बच्चे आपस में लड़ रहे हों, बहस कर रहे हों या शिकायत लेकर उनके पास गये हों, वह बगैर कुछ सुने दोनों फकीरों के बाल पकड़ते थे और दोनों का सिर जोर से भिड़ा देते थे।

इस तरह उन्हें सिखाया जाता था कि अन्याय को चुपचाप बरदाश्त करने में ही समझदारी है।

और एक लेखक के रूप में मैं पिछले पैंतीस साल से इस कोशिश में लगा हूँ कि हम लोग अन्याय के खिलाफ उठ खड़े हों, चुप न रहें।

पता नहीं सिर से सिर भिड़ाने वाली शिक्षा आज भी मेरे रास्ते में खड़ी है या नहीं ! ♦